

आध्यात्मिक त्रिपथगा : भक्ति, कर्म और ज्ञान

मानव जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं :

१. बचपन !
२. जवानी !
३. बुढ़ापा !

मानव का जीवन इन तीन धाराओं से गुजरता है, और प्रत्येक धारा के साथ एक विशेष प्रकार की वृत्ति जन्म लेती है और अवस्था-विशेष के साथ-साथ वह वृत्ति बदलती भी रहती है।

जीवन की प्रथम अवस्था है—बचपन ! शैशव ! बालक की वृत्ति परापेक्षी होती है। वह सहारा खोजता है, प्रारम्भ में चलने के लिए उसे कोई न कोई अँगुली पकड़ने वाला चाहिए। माँ उसे अँगुली पकड़कर चलाती है, अपने हाथ से खिलाती है। वह खुद खा भी नहीं सकता। गन्दा हो जाए, तो खुद साफ भी नहीं हो सकता। कोई सफाई करने वाला, नहलाने वाला चाहिए। अपने हाथ से नहा भी नहीं सकता। खड़ा रहेगा कि कोई नहला दे, देखता रहेगा कि कोई खिला दे। मतलब यह है कि बालक की प्रायः हर प्रवृत्ति, पूर्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा रखती है। माँ हो, या अन्य कोई, जब उसे सहारा मिलेगा, तभी उसकी अपेक्षा पूरी हो सकेगी।

साधना का शैशव : भक्ति-योग :

हमारी साधना भी इसी प्रकार अपने एक शैशव-काल के बीच से गुजरती है, उस अवस्था का नाम है—‘भक्ति-योग’ !

भक्त अपने आप को एक बालक के रूप में समझता है। वह भगवान् के समक्ष अपने को उनके बालक के रूप में ही प्रस्तुत करता है। भक्त अपने व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं समझता। जीवन में स्वयं के कर्तापन का भाव जागृत ही नहीं होने देता। भगवान् से ही सब-कुछ अपेक्षा रखता है—“प्रभु तू ही तारने वाला है, तू ही मेरा रक्षक है ! जो कुछ है तू ही है। “त्वमेव माता च पिता त्वमेव” यह भगवदाश्रित वृत्ति है, जिसे साधना की भाषा में ‘भक्ति-योग’ कहा जाता है।

‘भक्ति-योग’ जीवन की प्राथमिक दशा में अपेक्षित रहता है। बालक को जब तक अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता, वह माता की शरण चाहता है। भूख लगी तो माँ के पास दौड़कर जाएगा। प्यास लगी तो माँ को पुकारेगा। कोई भय तथा कष्ट आता है, तो माँ के आँचल में छुप जाता है। भक्त का मन भी जब व्याकुल होता है, तो वह भगवान् को पुकारता है, जब कष्ट आते हैं, तो भगवान् की शरण में जाता है, प्रार्थना करता है।

जब समस्याएँ घेर लेती हैं, तो भगवान् को हाथ जोड़ता है—“प्रभु ! मेरे कष्ट मिटा दो ! मैं तुम्हारा अबोध बालक हूँ।” इस प्रकार की प्रार्थनाएँ भारत के प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। वैदिक-परम्परा में तो इसका जन्म ही हुआ है। मानव मन का सत्य तो यह है कि साधना के प्रत्येक प्रथम काल में प्रत्येक साधक इसी भाव की और उन्मुख होता है, बचपन की तरह जीवन की यह सहज वृत्ति इसमें विचारों की अस्फुटता,

भोलापन और एक मुकुमारता का भाव छिपा है, जो मानव-मन की सहज धारा है। इसलिए चाहे वैदिक परम्परा है, बौद्ध परम्परा है, या जैन परम्परा—सर्वत्र भक्ति-योग का प्रवाह उमड़ा, साधक उसकी धारा में बहे और काफी दूर तक बह गये। स्तोत्र, पाठ और प्रार्थनाएँ रची गईं, विनितियाँ गाई गईं और इसके माध्यम से साधक भगवान् का आंचल पकड़कर चलने का आदी रहा।

जब तक साधक को अपने अस्तित्व का सही बोध प्राप्त नहीं हो जाता, जब तक वह यह नहीं समझ लेता है कि भगवान् का बिम्ब ही भक्त में परिलक्षित हो रहा है। जो उसमें है, वह मुझ में है, यह अनुभूति (जिसे सखाभाव कहते हैं) जब तक जागृत नहीं होती, तब तक उसे भगवान् के सहारे की अपेक्षा रहती है। भक्ति के आलम्बन की आवश्यकता होती है। निराशा और कुप्टा उसके कोमल मन को दबोच न ले, इसके लिए भगवान् की शरण भी अपेक्षित रहती है। हाँ, यह शरण उसे भय से भागना सिखाती है, मुकाबला करना नहीं, कष्ट से बचना सिखाती है, लड़ने की क्षमता नहीं जगा सकती।

साधना का यौवन : कर्म-योग :

युवा अवस्था जीवन की दूसरी अवस्था है। जब बचपन का भोलापन समझ में बदलने लगता है, मुकुमारता शौर्य में प्रस्फुरित होने लगती है, माँ का आंचल पकड़े रहने की वृत्ति सीना तानकर खड़ा होने में परिवर्तित होने लगती है, तो हम कहते हैं—बच्चा जवान हो रहा है। अगर कोई नौजवान होकर भी माँ को पुकारे कि “माँ सहारा दे, मेरी अँगुली पकड़ कर चला, नहीं तो मैं गिर जाऊँगा। कुत्ता आ गया, इसे भगा दे, मक्खियाँ मुँह पर बैठ रही हैं, उड़ा दे। गंदा हो गया हूँ, साफ कर दे, मुँह में ग्रास देकर खिलादे”—तो कोई क्या कहेगा? अरे! यह कैसा जवान है, अभी बचपन की आदतें नहीं बदलीं। और माँ-बाप भी क्या ऐसे युवा पुत्र पर प्रसन्नता और गर्व अनुभव कर सकते हैं? उन्हें चिन्ता होती है, बात क्या है? डाक्टर को दिखाओ! यह अभी तक ऐसा क्यों करता है?

तात्पर्य यह है कि यौवन वह है, जो आत्म-निर्भरता से पूर्ण हो। जबानी दूसरों का मुँह नहीं ताकती। उसमें स्वावलम्बन की वृत्ति उभरती है, अपनी समझ और अपना साहस होता है। वह भय और कष्ट की घड़ी में भागकर माँ के आंचल में नहीं छुपता, बल्कि सीना तानकर मुकाबला करता है। वह दूसरों के सहारे पर भरोसा नहीं करता, अपनी शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह पर विश्वास करके चलता है।

साधना क्षेत्र में जीवन की यह युवा अवस्था ‘कर्म-योग’ कहलाती है। बचपन जब तक है, तब तक किसी का सहारा ताकना ठीक है, पर जब युवा-रक्त हमारी नसों में दौड़ने लगता है, तब भी यदि हम अपना मुँह साफ करने के लिए किसी और को पुकारें, तो यह बात युवा-रक्त को शोभा नहीं देती।

कर्म-योग हमारी युवाशक्ति है। अपना मुँह अपने हाथ से धोने की बात—कर्म-योग की बात है। कर्म-योग की प्रेरणा है—“तुझे जो कुछ करना है, अपने आप कर! अपने भाग्य का विधाता तू खुद है। जीवन में जो पीड़ाएँ और यातनाएँ तुझे कचोटेने आती हैं, वे किसी और की भेजी हुई नहीं हैं। तेरी भूलों ने ही उन्हें निमित्तित किया है, अब उनसे भाग मत। उनका स्वागत कर! मुकाबला कर! भूल को अनुकूल बनाना, शूल को फूल बनाना—इसी में तो तेरा चमत्कार है। जीवन की गाड़ी को मोड़ देना, उसके चक्के बदल देना, यह सब तेरे अधिकार में है। तू अपनी गाड़ी का प्रभुसत्ता सम्पन्न मालिक होकर भी साधारण-से क्रीतदास की तरह खड़ा देख रहा है, यह ठीक नहीं।” इस प्रकार कर्म-योग मन में आत्म-निर्भरता का साहस-भाव जगाता है। अपना दायित्व अपने ऊपर लेने की आत्मिक शौर्य-वृत्ति को प्रोत्साहन देता है।

एकत्व भावना : अनाथता नहीं :

जैन-संस्कृति में मन का परिशोधन करने के लिए बारह भावनाएँ बतलाई गई हैं। उनमें एकत्वभावना भी एक है। आप एकत्व का अर्थ करते हैं—“कोई किसी का नहीं है, जीव अकेला आया है, अकेला जाएगा, सब जग स्वार्थी है, माता-पिता, पति-पत्नी सब स्वार्थ के सगे हैं, मतलब के यार हैं। मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है आदि।” मैं नहीं कहता कि सिद्धान्ततः यह कोई गलत बात है, किन्तु इस चिन्तन के पीछे जो दृष्टि छुपी है, उसे हम नहीं पकड़ सके हैं। ‘मैं अकेला हूँ’ इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम संसार को स्वार्थी और मक्कार कहने लगें। अपने को असहाय और अनाथ समझ कर चलें, जीवन में दीनता के संस्कार भर कर समाज और परिवार के कर्तव्य से विमुख होकर निरीह स्थिति में पड़े रहें। यह तो समाजद्रोही वृत्ति है, इससे अन्तर्मन में दीनता और हीनता आती है। एकत्व का सही अर्थ यह है कि “जीवन के क्षेत्र में मैं अकेला हूँ, मेरा निर्माण मुझे ही करना है, मेरे कल्याण और अकल्याण का उत्तरदायी मैं स्वयं ही हूँ—“अप्पा कत्ता विकत्ता य” मेरी आत्मा ही मेरे सुख और दुःख का कर्ता-हर्ता है—दूसरा कोई नहीं।” इस प्रकार का चिन्तन करना ही वस्तुतः एकत्व का अर्थ है। अपना दायित्व अपने ऊपर स्वीकार करके चलना—यह एकत्व भावना है। और, यही वस्तुतः कर्म-योग है। हमारे मन में एकत्व की फलश्रुति—आत्म-सापेक्षता के रूप में जगनी चाहिए, असहायता एवं अनाथता के रूप में नहीं।

युवा-संस्कृति की साधना .

जैन-संस्कृति साधना की युवा संस्कृति है, युवाशक्ति है, कर्मयोग जिसका प्रधान तत्त्व है। कर्म-योग के स्वर ने साधक के सुप्त शौर्य को जगाया है, मूर्छित आत्म-विश्वास को संजीवन दिया है। उसने कहा है—जीवन एक विकास यात्रा है, इस यात्रा में तुम्हें अकेला चलना है, यदि किसी का सहारा और कृपा की आकांक्षा करते रहे, तो तुम एक कदम भी नहीं चल सकोगे। सिद्धि का द्वार तो दूर रहा, साधना का प्रथम चरण भी नहीं रख सकोगे। इसलिए अपनी शक्ति पर विश्वास करके चलो। अपनी सिद्धि के द्वार अपने हाथ से खोलने का प्रयत्न करो ! अपने बन्धन, जो तुमने स्वयं अपने ऊपर डाले हैं, उन्हें स्वयं अपने हाथों से खोलो। इसी भावना से प्रेरित साधक का स्वर एक जगह गूँजता है—

“सखे ! मेरे बन्धन मत खोल,
स्वयं बँधा हूँ, स्वयं खुलूँगा।
तू न बीच में बोल !
सखे ! मेरे बन्धन मत खोल ॥”

साधक अपने पड़ोसी मित्र को ही सखा नहीं कहता, बल्कि अपने भगवान् को भी सखा के रूप में देखता है और कहता है—“हे मित्र, मेरे बीच में तुम मत आओ ! मैं स्वयं अपने बन्धनों को तोड़ डालूँगा ! अपने को बन्धन में डालने वाला जब दूसरा कोई नहीं, मैं ही हूँ, तो फिर बन्धन तोड़ने के समय दूसरों को क्यों पुकारूँ ? मैं स्वयं ही अपने बन्धन खोलूँगा और अपने निरंजन, निर्विकार, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करूँगा।”

आत्म-सापेक्षता, निरीश्वरवाद नहीं :

अपना दायित्व अपने ऊपर लेकर चलने की प्रेरणा जैन-दर्शन और जैन-संस्कृति की मूल प्रेरणा है। वह ईश्वर के भरोसे अपनी जीवन-नीका को अथाह समुद्र में इसलिए नहीं छोड़ देता—कि “बस, भगवान् मालिक है। वह चाहेगा तो पार लगाएगा, वह चाहेगा तो मँझधार में गर्क कर देगा।” कुछ दार्शनिक इसी कारण जैन-दर्शन को निरीश्वरवादी कहते हैं। मैं कहता हूँ यदि यही निरीश्वरवाद है, तो उस ईश्वरवाद से अच्छा है, जो आदमी

को पंगु और परापेक्षी, दीन-हीन बना देता है। जैन-दर्शन मानव को इस मानसिक अक्षमता से मुक्त करके आत्मनिर्भर बनाता है। आत्मबल पर विश्वास करने की प्रेरणा देता है। ऐसे में, जैन-दर्शन निरीश्वरवादी कहाँ है? उसने जितने ईश्वर माने हैं, उतने तो शायद किसी ने नहीं माने। कुछ लोगों ने ईश्वर एक माना है, कुछ ने किसी व्यक्ति-विशेष और शक्ति-विशेष को ईश्वर मान लिया है। कुछ ने ईश्वर को व्यापक मानकर भी सर्वत्र अवतार रूप में उसका अंश माना है, सम्पूर्ण रूप नहीं। किन्तु, जैन-दर्शन की यह विशिष्टता है कि वह प्रत्येक आत्मा में ईश्वर का दर्शन करता है। वह ईश्वर को एक व्यक्ति-विशेष या शक्ति-विशेष नहीं, गुण-विशेष मानता है। वह गुण सत्ता रूप में प्रत्येक आत्मा में है—एक संत की आत्मा में भी है और दुराचारी की आत्मा में भी। एक आत्मा में वे गुण व्यक्त हो गए हैं या हो रहे हैं, एक में अभी सुप्त हैं। रावण में जब राम प्रकट हो जाता है, तो फिर वह रावण नहीं रहता, वह भी राम ही हो जाता है। जैन-दर्शन की अध्यात्म-दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह राम में ही राम को नहीं, अपितु रावण में भी राम को देखती है, और उसे व्यक्त करने की प्रेरणा देती है। यदि रावण में राम को जगाना, राम की सत्ता का विरोध या अस्वीकार माना जाए, तो यह गलत बात होगी।

जैन-दर्शन प्रत्येक आत्मा में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, और उस सत्ता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेरणा देता है। यह प्रेरणा ही सच्चा कर्म-योग है। वह भक्ति-योग से इन्कार नहीं करता, पूजा-पाठ, जप, स्तोत्र आदि के रूप में भक्ति-योग की सभी साधनाएँ वह स्वीकार करके चलता है, किन्तु केवल भक्ति-योग तक ही सीमित रहने की बात वह नहीं कहता। इसके आगे कर्म-योग को स्वीकार करने की बात भी कहता है। वह कहता है—बचपन, बचपन में सुहावना है, जवानी में बचपन की आदतें मत रखो। अब जवान हो, जवानी का रक्त तुम्हारी नसों में दौड़ रहा है, तो फिर दूसरों का सहारा ताकने की बात, भूख लगने पर माँ का आँचल खींचने की आदत और भय सामने आने पर छुप जाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है। रोने से बालक का काम चल सकता है, किन्तु युवक का काम नहीं चलेगा। प्रभु के सामने रोने-धोने से मुक्ति नहीं मिलेगी, केवल प्रार्थनाएँ करने से ये बन्धन नहीं टूटेंगे, प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ भी करना होगा। भक्ति के साथ सत्कर्म भी करना होगा।

कर्म ही देवता है :

भगवान् महावीर की धर्म क्रान्ति की यह एक मुख्य उपलब्धि है कि उन्होंने ईश्वर की जगह कर्म को प्रतिष्ठा दी। भक्ति के स्थान पर सदाचार और सत्कर्म का सूत्र उन्होंने दिया। उन्होंने कहा—

“सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला हवन्ति !”^१

“अच्छे कर्म अच्छे फल देने वाले होते हैं, बुरे कर्म बुरे फल देने वाले होते हैं।” यदि आप मिश्री खाते हैं, तो भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं कि वह आपका मुँह मीठा करे। और मिर्च खाकर यह प्रार्थना करने की भी जरूरत नहीं—कि प्रभो! मेरा मुँह न जले। मिश्री खाएँगे, तो मुँह मीठा होगा ही, और मिर्च खाएँगे, तो मुँह जलेगा ही। जैसा कर्म होगा, वैसा ही तो फल मिलेगा। भगवान् इसमें क्या करेगा? भगवान् इतना बेकार नहीं है कि वह आपका मुँह मीठा करने के लिए भी आए और आपके मुँह को जलने से बचाने के लिए भी आए। मार्ग में चलते हुए यदि धूप लग रही है और छाया की आवश्यकता है, तो आपको छाया में जाना चाहिए। यदि आप छाया में न जाकर वृक्ष से प्रार्थना करने लगें—“हे तरुराज! हमें छाया दीजिए! तो क्या वह छाया देगा?”

१. औपपातिक सूत्र, ५६

छाया तो तभी मिलेगी, जब आप छाया में जाकर बैठेंगे। जाकर बैठना आवश्यक है, छाया स्वयं मिल जाएगी। छाया का मांगना क्या ?

“छाया तरं संश्रयतः स्वतः स्यात्
किं छायाया याचितयात्मलाभः ?”

यही स्वर भगवान् महावीर की वाणी का है—“यदि अच्छे फल चाहते हो, तो अच्छे कर्म करो, यदि मुक्ति चाहते हो तो संयम, तप, तितिक्षा का आचरण करो ! केवल प्रार्थना से मुक्ति नहीं मिलेगी। इस संसार में तुम्हें पड़े-पड़े मुक्त कर देने वाला कोई भगवान् या देवता नहीं है। तुम्हारा सत्कर्म ही तुम्हारा देवता है, वही तुम्हें मुक्ति के द्वार तक ले जाएगा।”

तथागत बुद्ध से जब पूछा गया कि मनुष्य की आत्मा पवित्र कैसे होती है, तो उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर से कहा—

“कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा ?”^१

कर्म, विद्या धर्म, शील (सदाचार) एवं उत्तम जीवन—इनसे ही मनुष्य की आत्मा परिशुद्ध होती है, धन या गोत्र से नहीं।

गुरु : एक मार्गदर्शक :

भक्ति-योग में अहंकार को तोड़ने एवं समर्पित होने की भावना का महत्त्व तो है, किंतु जब समर्पण के साथ पराश्रित वृत्ति का संयोग हो जाता है, साधक भगवान् और गुरु को ही सब-कुछ मानकर कर्म-योग से विमुख होने लगता है, तब भक्ति-योग में निष्क्रियता एवं जड़ता आ जाती है। यह जड़ता जीवन के लिए खतरनाक है।

हम एक बार दिल्ली से विहार करके आगरा की ओर आ रहे थे। एक गाँव में किसी महंत के मठ में ठहरे। बड़े प्रेम से उन्होंने स्वागत किया। रात को जब बातचीत चली, तो उनके शिष्य ने कहा—“गुरु ! मुझे गुस्सा बहुत आता है, इसको समाप्त कर दो न !”

मैं जब कुछ साधना बताने लगा, तो बोला—“यह साधना-वाधना मुझ से कुछ नहीं होती, मेरे इस विष को तुम चूस लो।”

मैंने कहा—“भाई ! मैं तो ऐसा गारुड़ी नहीं हूँ, जो दुनिया के विष को चूसता फिरूँ।”

वह बोला—“गुरु तो गारुड़ी होता है। तुम मेरे गुरु हो, फिर क्यों नहीं चूस लेते ?”

मैंने पूछा—“क्या आज तक कोई ऐसा गुरु मिला ?”

बोला—“अभी तक तो मिला नहीं।”

मैंने कहा—भले आदर्मी ! अब तक मिला नहीं, तो क्या अब मिल जाएगा ? गुरु तो सिर्फ विष को दूर करने का साधन मात्र बताता है, चेलों का विष चूसता नहीं फिरता। मैं रास्ता बता सकता हूँ, चलना चाहो, तो चल सकते हो। हमारा भगवान् और गुरु तो मार्ग दिखाने वाला ‘भगवदयाण’ है, घसीट कर ले जाने वाला नहीं है। वह तुमको दृष्टि दे सकता है, ‘चक्रवर्तियाण’ उसका विरुद्ध है, किन्तु यह नहीं कि तुम अन्धों की अँगुली पकड़ कर घुमाता फिरे। आँख की ज्योति खराब हो गई है, तो डाक्टर इतना ही कर सकता है कि दवा दे दे, आपरेशन कर दे, आँख ठीक हो जाए। यह नहीं कि वह आपकी लकड़िया पकड़ कर घिसटता रहे। मैंने कहा—“भाई, हम तो दृष्टि देने वाले हैं, आँख की दवा देने वाले हैं। आँख ठीक हो जाए, तो फिर चलना या न चलना, यह काम तुम्हारा है।”

१. मज्झिमनिकाय, ३।४३।३

बालक ज्यों-ज्यों युवक एवं योग्य होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपना दायित्व अपने ऊपर लेता जाता है। दायित्व को गेंद की तरह दूसरों की ओर नहीं उछालता बल्कि अपने ही परिधान की तरह अपने ऊपर ओढ़ता है। “मैं क्या कहूँ? मैं क्या कर सकता हूँ?” यह युवक की भाषा नहीं है। दायित्व को स्वीकार करने वाले का उत्तर यह नहीं हो सकता। वह हर समस्या को सुलझाने की क्षमता रखता है उसकी भुजाओं में गहरी पकड़ की बल-शक्ति होती है, बुद्धि में प्रखरता होती है। पिता भी युवक पुत्र को जिम्मेदारी सौंप देता है। उसे स्वयं निर्णय करने का अधिकार दे देता है। यदि कोई पिता योग्य पुत्र को भी दायित्व सौंपने से कतराता है, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं देता है, तो वह पुत्र के साथ न्याय नहीं करता। उसकी क्षमताओं को विकसित होने का अवसर नहीं देता। ऐसी स्थिति में यदि पुत्र विद्रोही बनता है, अथवा अयोग्य रहता है, तो इसका दायित्व पिता पर ही आता है। नीति-शास्त्र ने इसीलिए यह सूत्र कहा है—

“प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ।”

पुत्र जब सोलह वर्ष पार कर जाता है, योग्य हो जाता है, तो उसके साथ मित्र की तरह व्यवहार करना चाहिए।

आप जानते हैं, अच्छा मास्टर या गुरु कैसे परखा जाता है। अच्छा मास्टर बच्चों को पाठ पढ़ाते समय आखिर तक खुद ही नहीं बोलता जाता, बल्कि बीच-बीच में उनसे पूछता है, उन्हीं के मुँह से सुनता है—ताकि पता चले, बच्चे कितना ग्रहण कर रहे हैं, उनकी बौद्धिक क्षमता कितनी है? ऐसा करनेसे बच्चों को सोचने का अवसर मिलता है, क्षमता को विकसित होने का मार्ग मिलता है। जो अध्यापक स्वयं ही सब-कुछ लिखा-पढ़ा देता है, उसके छात्र बौद्धिक विकास में दुर्बल रह जाते हैं।

इसी प्रकार भगवान् या गुरु साधक को मार्ग दिखाता है, दृष्टि देता है, किन्तु अपने आश्रित एवं अधीन नहीं करता, उसमें आत्मनिर्भर होने का भाव जगाता है। अपना दायित्व अपने कंधों पर उठाकर चलने का साहस स्फूर्त करता है, बस यही हमारा कर्मयोग है। भक्ति-योग में जो भगवान् रक्षक के रूप में खड़ा था, कर्मयोग में वह एक मार्गदर्शक भर रहता है।

ज्ञानयोग का प्रतीक : वृद्धत्व :

जीवन की तीसरी अवस्था बुढ़ापा है। बुढ़ापे में शरीर बल क्षीण हो जाता है। कहा जाता है, बालक का बल माता है, युवक का बल उसकी भुजाएँ हैं और वृद्ध का बल उसका अनुभव है। बुढ़ापे में जब शरीर जराजीर्ण हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब वह न भक्ति कर सकता है और न कर्म ही। उसके पास तब केवल अनुभव अर्थात् ज्ञान ही सहारा होता है, यही उसका बल है। ज्ञानयोग की अवस्था इसीलिए साधना की तीसरी अवस्था मानी गई है।

भारतीय संस्कृति में वृद्ध को ज्ञान का प्रतीक माना गया है। जीवन भर के अध्ययन एवं अनुभव का नवनीत वृद्ध से प्राप्त हो सकता है। इसलिए महाभारत में ‘वृद्ध’ को धर्मसभा का प्राण बताते हुए कहा गया है—“न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः”।^१ जिस धर्म सभा में वृद्ध उपस्थित न हों, वह सभा ही नहीं है। बुद्ध ने भी इसीलिए कहा कि—“जो वृद्धों का अभिवादन-विनय करता है, उसके आयु, यश, सुख एवं बल की वृद्धि होती है।”^२

तात्पर्य यह है कि वृद्ध अवस्था परिवक्व अवस्था है, जिसमें अध्ययन अनुभव का रस पाकर मधुर बन जाता है। उसकी कर्मेन्द्रियाँ भले ही क्षीण हो जाएँ, किन्तु ज्ञानशक्ति

१. महाभारत, ३५, ५८

२. धम्मपद, ८, १०

बड़ी सूक्ष्म और प्रबल रहती है। इसीलिए बृद्ध अवस्था को ज्ञान-योग की अवस्था के रूप में माना गया है।

ज्ञान-योगी : जीवन-मुक्त सिद्ध :

जैन-धर्म की साधना-पद्धति का जिन्हें परिचय है, वे जानते हैं कि साधक कैवल्य-दशा को प्राप्त करने के साथ ही 'ज्ञान-योग' की परिपूर्ण अवस्था में पहुँच जाता है। साधना-काल 'कर्म-योग' है और सिद्ध-अवस्था 'ज्ञान-योग' है। यह स्मरण में रखना चाहिए कि साधना-काल में ज्ञान तो होता है, होना ही चाहिए, किन्तु केवलज्ञान नहीं होता। जब ज्ञान-पूर्वक साधना अपनी अन्तिम परिणति में पहुँच जाती है अर्थात् साधना-काल समाप्त हो जाता है, तभी केवलज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए पूर्णज्ञान केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद आत्मा सिद्ध कहलाती है। यह आप जानते ही हैं कि देह-मुक्त सिद्ध और सदेह-सिद्ध के जो भेद हैं, वे इसी दृष्टि से हैं। केवलज्ञानी अर्हन्त, जो सशरीर होते हैं, सदेह-सिद्ध कहलाते हैं। उन्हीं की अपेक्षा से आगमों में एक स्थान पर यह प्रयोग आया है—“सिद्धा एवं भासन्ति” सिद्ध ऐसा कहते हैं, अर्थात् केवलज्ञानी अर्हन्त ऐसा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है—सिद्ध-अवस्था ज्ञान-योग की अवस्था है, जहाँ कर्तव्य एवं कर्म की सम्पूर्ण सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं, साधना के रूप में विधि-निषेध के बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा केवल अपने स्वभाव में, ज्ञान-योग में ही विचरण करती है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है और उठता भी है—जब केवल-दशा में कुछ भी कर्तव्य अवशेष नहीं रहता, साधना-काल समाप्त हो जाता है, तो फिर केवलज्ञानी उपवास आदि किसलिए करते हैं? क्योंकि उनके सामने न इच्छाओं को तोड़ने का प्रश्न है और न कुछ अन्य विशिष्टता पाने का?

बात ठीक है। इच्छाएँ जब तक रहती हैं, तब तक कैवल्य प्राप्त हो नहीं पाता, अतः इच्छा-निरोध का तो प्रश्न नहीं हो सकता। क्योंकि आत्म-स्वरूप के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय रूप चार घाति-कर्मों को क्षय करने हेतु साधना होती है। घाति-कर्म वहाँ समाप्त हो चुके हैं, अवशिष्ट वेदनीय, आयुष, नाम और गोत्र रूप चार अघाति-कर्म रहे हैं और अघाति-कर्म को क्षय करने हेतु बाहर में किसी भी तप आदि साधना की अपेक्षा नहीं रहनी। अतः उपवास आदि तप अघाति-कर्म को क्षय करने हेतु कभी नहीं होते। अघाति-कर्म काल-परिपाक से स्वतः ही क्षीण हो जाते हैं। विचार कीजिए, यदि कोई आयु-कर्म को क्षीण करने हेतु उपवास आदि करता है, तो यह स्पष्ट ही गलत है।

वीतराग केवलज्ञानी सदेह-सिद्ध अर्हन्तों के उपवास आदि चर्चा के सम्बन्ध में जैन-दर्शन में कहा गया है—“यह एक काल-स्पर्शना है, पुद्गल स्पर्शना है। कैवल्य-अवस्था निश्चय दृष्टि की अवस्था होती है, केवलज्ञानी जब जैसी स्थिति एवं स्पर्शना का होना देखते हैं, तब वे वैसा ही करते हैं, करते क्या हैं, सहज ही वैसी परिणति में हो जाते हैं। उनके लिए उदय मुख्य है—“विचरे उदय प्रयोग।” जब आहार की पुद्गल-स्पर्शना नहीं होती, तो सहज उपवास हो जाता है। और, जब आहार की पुद्गल-स्पर्शना होती है, तब आहार हो जाता है। न उपवास का कोई विकल्प है और न आहार का। सर्व-विकल्पातीत-दशा, जिसे हम कल्पातीत अवस्था कहते हैं, उस अवस्था में विधि-निषेध अर्थात् विहित-अविहित जैसी कोई मर्यादा नहीं रहती। इसी को वैदिक-संस्कृति में विधि-निषेध से परे की त्रि-गुणातीत अवस्था कहा है—“नैस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?” यह ज्ञान-योग की चरम अवस्था है, जहाँ न भक्ति की जरूरत है, न कर्म की! आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञान रूप में स्वतः ही परिणमन करती रहती है। जैन-परिभाषा में यह आत्मा की स्वरूप अवस्था सदेह-सिद्ध अवस्था है। उक्त जीवन-मुक्त सदेह-सिद्ध अवस्था से ही अन्त में देह-मुक्त सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। और, इस प्रकार ज्ञान-योग पूर्णता की अपनी अन्तिम परिणति में पहुँच जाता है।

तीनों का समन्वय :

बचपन से जीवन और जीवन से वाद्वैक्य, जिस प्रकार जीवन का आरोहण क्रम है, उसी प्रकार साधना का भी, भक्तियोग से कर्मयोग और कर्मयोग से ज्ञानयोग के रूप में ऊर्ध्वमुखी आरोहण-क्रम है। एक दृष्टि से भक्तियोग में साधना की कोई विशिष्टता नहीं रहती, और अन्तिम ज्ञानयोग में भी उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए कर्मयोग ही साधना का मुख्य केन्द्र रहता है। किन्तु एक बात भूल नहीं जानी है कि हमें कर्मयोग में भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का उचित आश्रय लेना पड़ता है, इसलिए साधनास्वरूप कर्मयोग के केन्द्र पर स्थित होकर हमें भक्ति एवं ज्ञान का सहारा लेकर चलना होता है। रूपक की भाषा में भक्ति हमारा हृदय है, ज्ञान हमारा मस्तिष्क है और शरीर, हाथ, पैर कर्म हैं। तीनों का सुन्दर समन्वय ही स्वस्थ जीवन का आधार है।

